

एक सदारंग खयाल – सत्यशील देशपांडे

उत्तर भारतीय कला जगत में लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जिन 'सम'विचारी गायकों ने जिसे ढूँढ़, अपनाया उस 'खयाल' का प्रमुख प्रतिनिधि सदारंग को माना जाता है। यह खयाल फ़यूजन के तूफानी झकझोर में, और बिजली की चकाचौंध करनेवाली प्रकाश-लपट में अपनी मंद ज्योति लिये अपने गर्भ-गृह की आभा आज भी बनाए रखा है।

'खयाल' नामक सुरतालबंध एक ऐसी असंतुष्ट आत्मा है, जो नए-पुराने स्वच्छंद गायकों के स्वरों से स्पंदित विविध राग-कमलों का नित्य नूतन विकसन अपने अंतस में संजोए रखती है। मैंने गाए हुए, मेरे सुने हुए अनगिनत खयाल मेरे अवचेतन और चेतन मानस में दृढ़ हैं। और अब खयाल पर लिख रहा हूँ तो एक शेर याद आ रहा है –

“मैं खयाल हूँ किसी और का, मुझे सोचता कोई और है”।

इस 'खयाल' नामक सुरतालबंध के बारे में कुछ कहने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि यह किस तरह उत्पन्न हुआ, और इसे जानने के लिए यह भी अनिवार्य हो जाता है कि संगीत की 'खयाल' तक की उत्क्रांति या यों कहिए कि संक्रमण का जायजा लिया जाए।

यह अज्ञात है कि किसने, किसे, क्यों और कब यह सदुपदेश दिया था कि ऋषि के कुल और नदी के मूल (उगमस्थान) की खोज नहीं करनी चाहिए। परंतु दुनिया भर के संगीत-विशेषज्ञों ने यही कल्पना की है कि वैदिक ऋचाएँ ही अपने संगीत का उगमस्थान हैं। इन ऋचाओं को संगीत का उगमस्थान कहने की बजाय संगीत का सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रमाण कहना अधिक उचित होगा। इन ऋचाओं का संगीत से संबंध यह कि वे उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, इन तीनों स्वरों में गाई गई हैं। किसलिए? इसलिए कि प्रकृति के पंचमहाभूतों की लीलाओं और अपरिमित सामर्थ्य की तुलना में मानव मन को अपने जीवन की नगण्यता और नश्वरता का एहसास हुआ और उन्होंने इन दिव्य अनाकलनीय शक्तियों की पूजा बाँधी। इन शक्तियों को वंदन करते समय ऋषि-मुनियों की वाणी से जो सहज उद्गार ... सहजगान निकले, वे ही हैं ये वैदिक ऋचाएँ। पंच महाभूतों की देवता रूप में कल्पना करते हुए उनका किया गया आवाहन ही ये ऋचाएँ हैं, उनका वंदन है। उन ऋषि-मुनियों की उदात्त इच्छा थी कि प्रकृति की इन दिव्य शक्तियों का कोप न हो, वे प्रसन्न हों, सभी ऋतु अनुकूल रहें, धरती सुजलाम्, सुफलाम् हो, यज्ञ-याग निर्विघ्न सम्पन्न हों, और इसीलिए देवताओं को वश में किया जाए। (शत्रु की टोली के पुरुष मर जाएँ, और उनकी स्त्रियाँ तथा पशुधन हमारी टोली को प्राप्त हो, इस प्रकार की आदिम और अनुदात्त अभिलाषा के लिए भी इन ऋचाओं में देवताओं का आवाहन किया गया दिखाई देता है)। आज की भाषा में कहें तो देवताओं से संपर्क स्थापित करने का 'पासवर्ड' संभवतः वेदमंत्रों की ध्वनि रही होगी। परंतु निश्चित रूप से यह ध्वनि 'स्वरित' ही रही होगी, क्योंकि इनका गाकर ही पठन किया गया है।

('खयाल' गायन में अधिकांश, सास, ननद, सौतन जैसे काव्य विषयों का इस्तेमाल किया गया है, परंतु वैदिक ऋचाओं में प्रयुक्त उपर्युक्त विषय अप्रचलित हैं, इसलिए कुछ विषयांतर किया है)।

इन ऋचाओं को ही भारतीय संगीत की आदिम उपलब्ध बंदिश कहा जा सकता है।

यदि अपने यहाँ के संगीत की ऋचा पठन से लेकर 'खयाल' तक की उत्क्रांति पर विचार करें, तो मुझे कुछ बातें महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं, उनमें से एक बात है कि इन ऋचाओं का तब और अब भी सामूहिक पठन ही किया जाता है। यह पठन यानी देवताओं को दिया गया सामूहिक आमंत्रण है, सामूहिक मानवंदना है। जिस तरह अपने हृदय की बात की तरह हम कोई शेर, कोई सुनीत, कोई बंदिश अपने यार-दोस्त को सुनाते हैं, वैसी बात वैदिक ऋचाओं को लेकर ना हुई है, ना होती है। ऋचाओं का सामूहिक पठन ही किया जाता है।

तीन स्वरों के वेदघोष से संगीत की आगे उत्क्रांति हुई और लोकधुनों में पाई जानेवाली तीन-चार स्वरों की धुनों को सात स्वरों का सप्तक प्राप्त हुआ। इसी कारण राग निर्माण की संभावना उत्पन्न हुई। इसी के समानांतर उत्क्रांति ताल-शास्त्र में भी हुई। लोक संगीत के दादरा, केरवा जैसे 6 और 8 मात्राओं के उछलते ठेकों से दोगुनी मात्राओं के यानी 12 और 16 मात्राओं के एकताल और त्रिताल 'खयाल' गायन में शामिल होने लगे और उनकी लय-क्रीड़ा का जटिल ताल-शास्त्र निर्माण हुआ।

सामगान, गंधर्व गान, जाति गायन, गीति, प्रबंध, ध्रुपद जैसे आकारबंधों में संगीत आत्म-प्रस्तुति का मार्ग खोजता रहा, केंचुली उतारता रहा। पिछले कम से कम डेढ़ सौ वर्षों में यह संगीत 'ख्याल' गायन में ही प्रगति करता रहा और पुष्ट होता गया। सामूहिक वंदना के लिए इस्तेमाल किए गए संगीत विचार से लेकर वैयक्तिक आत्म-प्रस्तुति का परमोत्कर्ष साध्य करनेवाले 'ख्याल' तक के इस सफर को संगीत की उत्क्रांति द्वारा भरी गई उल्लेखनीय उड़ान ही कहा जाएगा।

वैयक्तिक आत्म-प्रस्तुति के इस गुणधर्म के कारण ही 'ख्याल' को भारतीय संगीत का आकारबंध कहने की बजाय सुरतालबंध कहना ठीक होगा। इसे भारत के अलग-अलग प्रांतों के, प्रवृत्ति के लोग अपने तरीके से गाकर वंदन करने का साहस करते हैं। पंचमहाभूतों की तरह 'ख्याल' भी अनाकलनीय है, और गायक जिसके अव्याख्यांतरणीय सशक्त सौन्दर्य मूल्यों को समझने का, अनावृत्त करने का, उसे वश करने का, सजाने का प्रयास कर रहे हैं और साथ ही इस गायन क्रिया का शास्त्र निर्माण कर उसकी कसौटी पर उसे कसने का भी प्रयास कर रहे हैं। इसके बावजूद 'ख्याल' कुछ छूट ही जाता है! प्रवाही जो ठेहेरा!

इसीलिए सूर, ताल, राग, शब्द और भावना नामक पाँच कलामूल्यों को पंचमहाभूत समझते हुए गायक उनकी पंचारती उतारते रहे हैं, उतारते रहेंगे। इन पंच कलामूल्यों को अपने तरीके से एकत्र बाँधकर गान-प्रवाह का जल पुनः गानप्रवाह में ही मिलाकर उसे प्रवाहित रखते आए हैं और नश्वर को स्वर देते रहे हैं। वैसे भी, गंगाजल को छोटे लोटे में भरकर घर के मंदिर में रखकर उसकी रोज पूजा करने की रूढ़ि तो है ही। याद आता है,

“माया महा ठगनी हम जानी।

पंडा के मूरत हवै बैठी तीरथ में भई पानी।“

सामगान, गंधर्व गान, जाति गायन, गीति, प्रबंध, ध्रुपद आदि के विषय में अधिक ठोस जानकारी न होने के कारण मैं आपको संगीत के 'ख्याल' से पहले के ध्रुपद से लेकर 'ख्याल' तक के स्थित्यंतरों के बारे में कुछ बताना चाहता हूँ।

मंदिर से दरबार में प्रविष्ट हुए ध्रुपद गायन में केवल देवताओं की स्तुतिपरक रचनाओं और लच्छेदार शब्दोंवाले काव्य का दोगुनी, चौगुनी लय में गाना प्रचलित होने से और इसके कारण समूह गायन के मामूली अकलात्मक स्तर पर ध्रुपद के उतर आने से उसका आकर्षण समय के साथ घट गया होगा। (ध्रुपद की कलात्मक प्रस्तुति का जितना रोचक और मुग्ध कर देनेवाला वर्णन र.वा. दिघे जी के 'गानलुब्धा मृगनयना' नामक उपन्यास में पढ़ा था, ऐसा ध्रुपद दुर्भाग्यवश मुझे सुनने नहीं मिला.)

इस पृष्ठभूमि में कहना होगा कि सदारंगप्रणीत 'ख्याल' में पहली बार व्यक्तिगत संवेदनाओं को, भाव स्थितियों को अवसर मिलने लगा। 'ख्याल' की बंदिशों के काव्य में सरल शब्दों में नए आशय और विषय आए। मानव जीवन के छोटे-बड़े सुखदुखों की कहानियाँ आईं। शब्दों के भाषिक अर्थ से परे जाकर उनमें प्रच्छन्न मृदु-कठोर, महाप्राण व्यंजनों की आघात क्षमता का, नृत्यमयता का, नादमयता का, उच्चारण में सुप्त अभिनय का कलात्मक उपयोग जाने-अनजाने 'ख्याल' गायन में होने लगा।

इस संदर्भ में श्री अशोक वाजपेयी जी से सुना एक किस्सा बताने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

एक व्यक्ति ने अली अकबर खांसाहब से उनकी एक सृजनशील प्रस्तुति का रहस्य पूछा।

उत्तर में खाँसाहब बोले, “शुरू में मैं सरोद बजाता हूँ, बाद में सरोद मुझे बजाती है”।

खाँसाहब की इस उक्ति का मैंने समझा हुआ भावार्थ है 'राग की प्रस्तुती में कलाकार की भावस्थिती को, तत्काल-स्फूर्तता को सहजता से समा लेने वाला ख्याल जैसा लचीला सुर-ताल-बंध दूसरा नहीं है।

'ख्याल' के माध्यम से यह रागसंगीत अखंड भारत के कम से कम दो तिहाई प्रदेशों में गाया जाता है। उसमें विविध सांस्कृतिक, भौगोलिक भाषिक विशिष्टताएँ और विविधताएँ जुड़ती चली गई हैं। इन विशिष्टताओं के कारण एक ही 'ख्याल', उसकी एक ही

बंदिश अलग-अलग मिजाज, स्वभाववाले गायकों द्वारा अलग-अलग पद्धति से प्रस्तुत होती रही, अनावृत्त होती रही। इस कारण 'खयाल' नामक इस आकारबंध का दायरा विस्तृत होता रहा और होता रहेगा।

किसी भी गायक की सांगीतिक संवेदनाओं, भावस्थितियों और व्यक्तित्व को समा लेनेवाले 'खयाल' की सर्वसमावेशक प्रवृत्ति के जिम्मेदार प्रमुख तांत्रिक कारण (और परिणामस्वरूप विभिन्न शैलियों, घरानों को जन्म देनेवाले) मेरे विचार में उत्तर भारतीय खयालसंगीत की ताल-क्रिया में है। पूरी दुनिया में केवल इस 'खयाल' संगीत की ताल पद्धति में ही वैश्विक लोक संगीत के दादरा (6 मात्राएँ) और कहरवा (8 मात्राएँ) जैसे उछलते ठेकावाली मात्राओं की दुगुनी मात्राओं के क्रमशः एकताल (12 मात्राएँ) और त्रिताल (16 मात्राएँ) जैसे परिष्कृत ताल गाए-बजाए जाते हैं। केवल इस संगीत की तालक्रिया में ताल के आवर्तन के दो भाग माने जाते हैं – पहला आधा और दूसरा आधा। इसे ही संगीत की भाषा में 'खाली-भरी' कहा जाता है। इससे आवर्तन के दोगुने हुए अवकाश में 'खयाल' गायन के दौरान बंदिश का मुखड़ा लेकर सम पर आने और अगले आवर्तन का मुखड़ा पकड़ने तक की उपलब्ध जगह में स्वर विस्तार करना संभव होता है। यही वह क्षेत्र है, जो नई उपज के लिए आवश्यक प्रतिभा की स्वर-उड़ान भरने के लिए लगनेवाला टेक उपलब्ध कराती है और विविध प्रकार की रचनात्मक संभावनाओं को जहाँ आजमाकर देखा जा सकता है। यही वह क्षेत्र है, जिसमें बंदिश के मुखड़े को लंगर समझकर, बंदिश के मुखड़े का सिरा पकड़कर, बार-बार उसकी आवृत्ति कर, उसके इर्दगिर्द स्वरवाक्य बाँधकर कलाकार राग गूँथता भी जाता है और अनावृत्त भी करता जाता है। रागताल के व्याकरण की चौखट के भीतर स्वरवाक्यों की नई रचना यहाँ संभव होती है। (सुगम संगीत की ही तरह दक्षिणी संगीत की कृति में और धृपद में भी खाली-भरी नहीं है। इस कारण इस संगीत में आवर्तन बाँधकर, मुखड़ा पकड़कर अवतरण नहीं होता, बल्कि गीत का मुखड़ा ही सम से उठता है। इसलिए मेरा यह दावा बिल्कुल नहीं है कि अपना ही संगीत श्रेष्ठ है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि दक्षिणी संगीत के बलस्थान अलग हैं।) यह स्वर विस्तार अच्छा-बुरा, योग्य-अयोग्य चाहे जैसा भी हो, उसे जारी रखना ही पड़ता है। किसी 9 वर्ष के बच्चे को भूप जैसा सरल राग गाते समय जिस प्रकार यह चिंता सताती है कि अपना स्वरविस्तार अगले आवर्तन में कैसा होगा, उसी प्रकार की चिंता पं रविशंकर जी जैसे कलाकार को नब्बे वर्ष की उम्र में भी सताती रही। तो फिर, यह इस प्रकार का परेशान करनेवाला शास्त्रीय संगीत किसलिए और किसके लिए ? यह उसके लिए, जिसके पास गायन में वही-वही, बार-बार करते रहने से शीघ्र ऊब जाने वाला मानसिक स्वास्थ्य है, सृजन का आनंद उठाने और उसके क्लेश सहन करने का बल जिसके पास है, जिसे आत्मपीड़ा में आनंद मिलता है, उसके लिए। अन्यथा, सुगम संगीत भी तो स्तरीय होता है। उसमें यह आत्मपीड़ाकारक चिंता नहीं होती कि अगले आवर्तन में क्या करना होगा। अलग-अलग प्रतिभाशालियों द्वारा लिखी हुई, स्वरबद्ध की हुई, अत्यंत सुंदर गाई हुई वह सुनिश्चित कला-प्रस्तुति है। उसका हमें केवल यथासंभव अनुकरण करना चाहिए और सुखी होना चाहिए।

आवर्तनों की ऐसी मालिका से कलाकार के स्वभाव, उस समय की उसकी भाव स्थिति, (सामान्यतः यह भाव स्थिति चयनित नहीं होती, बल्कि अपरिहार्य होती है) और कंठ की अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुसार राग रूप किसी ऐसे निबंध की भाँति सिद्ध होता जाता है, जिसे अभ्यास से तराशा गया हो। इस प्रक्रिया में कलाकार के अचेतन में स्थिर हुए संस्कार और उसकी तात्काल स्फूर्तता दोनों घटक कार्यरत होते हैं।

कलाकार के स्वभाव या मानसिक प्रवृत्ति में अत्यधिक विविधताएँ होती हैं। कुछ गायक आवर्तन की रचना में सम पर ठीक तरह से पहुँचने का खतरा मोल कर भी स्वरवाक्य सफलतापूर्वक सिद्ध करते हैं और आवर्तन में अनोखी सुन्दरता का परिचय देकर बढ़िया सम पर आते हैं। जबकि कुछ गायक उस राग को आवर्तन की हर मात्रा पीट कर धोबी की तरह धो डालते हैं। कोई स्वरालंकार हाथ खोलकर बिखेर देता है, तो कोई स्वर को सम्हालकर खर्च करता है।

कुछ मुमुक्षु कलाकार इस बात के प्रदर्शन को ही कला समझते हैं कि मोक्षप्राप्ति जैसी मुश्किल बात संगीत के जरिए कैसे साध्य हो सकती है या उन्होंने उसे किस प्रकार साध्य किया है।

गायन एक परिपूर्ण कला है। केवल कलात्मक अनुभव के लिए गायन उन्हें पर्याप्त प्रतीत नहीं होता। उनके मन में ऐसा कोई द्वन्द्व नहीं होता कि संगीत का इस्तेमाल आध्यात्मिक अनुभूति के लिए करने से वह 'एप्लाइड म्यूजिक' बन जाएगा और अकलात्मक कहलाएगा। परंतु ऐसे कलाकारों को मैं कोई दोष नहीं देना चाहता और न उनकी आलोचना कर रहा हूँ। अपनी भाव-स्थिति की अभिव्यक्ति के लिए रागरूप का इस्तेमाल करना भी 'एप्लाइड म्यूजिक' हो सकता है।

शांति से यह सोचना चाहिए कि सुर स्वरबद्ध होने के अलावा भी क्या अपनी कोई बात कहना चाहते हैं? क्या वे स्वर चाहते हैं कि उनकी बात कुछ अनुग्रहप्राप्त कलाकारों की समझ में आए? और स्वरों को कहने के लिये एक ही बात है या कई बातें हैं? और मान लीजिए कि ऐसा है, तो क्या कोई सीना ठोककर दावे के साथ यह कह सकता है कि वे जो समझ रहे हैं, स्वर वही कहना चाहते हैं?

परंतु निश्चित ही यह संगीत पश्चिमी सिम्फनी संगीत की तरह पूर्वनिर्धारित नहीं होता। वह एक सुनिश्चित प्रॉडक्ट नहीं होता, बल्कि राग के अंतरंग के क्रमशः अनावृत्त होने की और उसमें रंग भरते जाने की 'प्रोसेस' होता (प्रक्रिया) है। इसी कारण इस संगीत में उसी गायक का वही राग सुनने के लिए वे ही श्रोता बार-बार जाते हैं और वह गायक भी उसी राग को बार-बार गाना चाहता है।

इस सदारंगप्रणीत 'खयाल' की गानक्रिया में समूह गायन से छुटकारा पाकर एकल व्यक्तिगत संवेदनाओं की अभिव्यक्ति करने के लिए और आवर्तनों की वैविध्यपूर्ण रचना कर राग को विकसित करने के लिए गुंजाइश होती है। मौका मिलता है। यही इसका बलस्थान है। यही इसकी विशेषता है।

इसी कारण एकाध बार राग जमना या न जमना जैसी 'ह्यूमन क्वालिटीज्' आज अपने संगीत में इतनी अधिक समाविष्ट हो गई हैं, जितनी पहले कभी नहीं थीं और वह एक शुष्क, अनुशासनबद्ध, बौद्धिक ककहरा रटने की पवित्र (?) प्रक्रिया न रहकर मनुष्य मन के सुखदुखों की, गुण-विकारों की, यश-अपयश की चलती-बोलती आवर्तनों की शृंखला बन गई है। राग ताल के व्याकरण से ही चिपके रहनेवाली कला के गूढ़-रम्य प्रदेशों की सीमारेखा पर यह आवर्तनों की शृंखला प्रतिभाशाली कलाकारों के माध्यम से झूलती रहती है, हिलोरती रहती है।

इस 'खयाल' का दूसरा बलस्थान सामाजिक है। यह एक one man show वाल प्रस्तुति है, जिसे किसी नादान बालक से लेकर सुजान गायक तक कोई भी अपने अपने स्तर पर अपने सामर्थ्य के अनुसार बे साज़-ओ-सदा, और बगैर श्रोता के गाकर निर्मिति का आनंद ले-दे सकता है। इसीलिए यह 'खयाल'-गायन घर-घर में पहुँच सका है। नाटक की प्रस्तुति या सिम्फनी संगीत में यह संभव नहीं है।

भारत जैसे विस्तीर्ण देश की विविध सांस्कृतिक, भौगोलिक और प्रांतीय विशेषताओं के कारण अस्तित्व में आए अलग-अलग मिजाज के, स्वभाव के लोगों की संवेदनाओं और अभिव्यक्ति की विविधताओं ने इस 'खयाल' को समृद्ध किया है।

राग की सामान्य स्वराकृति से सच्चे स्वर की तलाश करनेवाले अब्दुल करीम खांसाहब ने उस स्वर के नाद की गुंजन को कहीं चोट न पहुँचे, इस विचार से बंदिश के स्वर-व्यंजनों के उच्चारण भी मुलायम और नादपूर्ण बना दिए और स्वरों की एक मयसभा निर्माण की, स्वरों का एक इंद्रजाल निर्माण किया। इन मूल्यों का अनुगमन किया गया और किराणा घराने का निर्माण हुआ।

आफताब-ए-मौसिकी फैयाजखां ने 'खयाल' गायन की बंदिश में जिस शब्द का इस्तेमाल किया, वह आगरा-वृंदावन परिसर की मिट्टी के मनोभावों को प्रकट करता है। 'खयाल' के आवर्तन भरते समय अपने नखरीले उच्चारण से उन्होंने इस शब्द के भाषिक सौन्दर्य का उपयोग तो किया ही, इसके अलावा आघात निर्मिति के लिए वादक की नखी के समान उन शब्दों के व्यंजनों का भी उपयोग किया। कभी मृदु तरंग उत्पन्न करनेवाले, तो कभी टणत्कार जैसे आघातों का उपयोग नहीं, बल्कि उपभोग करते हुए उन्होंने सघन आशयवाले स्वरवाक्यों की अपने 'खयाल' गायन के जरिए लूट मचा दी। 'खयाल' में रंगत भरने के लिए कहन, पुकार, आर्तता और आवाज में प्रच्छन्न 'मेलोड्रामा' आदि उनके हथियार थे। इन कलामूल्यों का भी अनुगमन किया गया, जिससे आगरा रंगीले घराने का निर्माण हुआ।

जयपुर घराने के उद्गाता अल्लादिया खांसाहब द्वारा प्रस्थापित गायकी की एक विशेषता यह है कि 'खयाल' में मुखड़ा लेकर सम पर आने की जगह निश्चित होती है और अत्यंत मेहनत से कमाए हुए घुमावदार, निर्गुण, निराकार आकार में (शब्दक्रीड़ा को पूरी तरह टालते हुए) आवर्तन की शेष जगह में राग की रचना की जाती है। 'खयाल' में उस स्थायी में रागरूप के अनुसार आलाप होता है और बाद में पेंचदार तानक्रिया होती है। द्रुत बंदिश का छिछोरा शृंगार यहाँ मंजूर नहीं होता।

रागरूप पर आरूढ़ होकर उसके स्वरों का एक-दूसरे से मेरुदंड पद्धति से संवादित्व स्थापित करनेवाले अमीरखाँ अपने विलंबित गायन में एक अलग ही गूढ़ भूलभूलैया का निर्माण करते हैं। अल्लादियाखाँ के अनुगामियों ने जिस तान को प्रेडिक्टेबल स्तर पर लाया, उसे अपनी कूट तान से जबाब देनेवाले रजबअलीखाँ का प्रभाव अमीरखाँ पर था। अल्लादियाखाँ की तानक्रिया के जवाब में रजबअली की तानक्रिया लय का गुना तो नहीं थी, परंतु अपनी आंतरिक अनुस्यूत लय को बनाए रखते हुए लय के गुना की छेदक थी। इस तानक्रिया को अमीरखाँ ने अधिक समृद्ध और विविधतासम्पन्न किया।

“नगमा वो नगमा है, जिसे रूह सुनाए और रूह सुने”

ऐसा लगता है कि स्वरों की धीमी लौ (वस्तुतः उसे शमा कहना चाहिए) जलाए रखनेवाले अमीर खाँ यह कहते हुए उस प्रकाश में, राग के अंधेरी गूढ़ गहराई में उतरकर उस गर्भगृह की थाह लेना चाहते हों । सच तो यही है कि अमीरखाँ के ‘खयाल’ के कलाविचारों को सही मायने में अनुगामित्व मिला ही नहीं।

सांगीतिक आशय की अपेक्षा उसे व्यक्त करनेवाली आवाज़ को, उस माध्यम को ही उच्च कलामूल्य के रूप में प्रस्थापित करनेवाले बड़े गुलामअलीखाँ की एक अलग ही चमत्कृतिपूर्ण गायकी की दुनिया है। वे एकमात्र गायक हैं जिन्होंने सिद्ध किया है कि आवाज भी कलामूल्य हो सकती है। यह आवाज भी कैसी, तो कुतबमीनार की तरह खरज में चौड़ी घेर-घुमावदार और तारसप्तक में झीनी नुकीली होती जानेवाली हो।

इन सारे घरानों की गंगोत्री माने जानेवाले ग्वालियर घराने का उल्लेख जानबूझकर अंत में किया जा रहा है। क्योंकि इस घराने के ‘खयाल’ गायन में एकदम आरंभ में ही एक के बाद एक अस्ताई अंतरा गाकर संपूर्ण सप्तक को घेरकर, संपूर्ण सप्तक को लिपटाकर उसकी निरंतरता बनाई रखी जाती है। बढत के लिए उपयुक्त आलाप, बोलआलाप, बोल तान आदि अष्टांगों में से हर एक अंग का विचार करनेवाले इस घराने के सर्वस्पर्शी कला-विचार में जो समग्रता है, वह उसकी व्याप्ति जितनी ही लचीली है। एक ही राग की अनेक बंदिशें अलग अलग ताल में, अलग अलग लय में इसी घराने में पाई जाती हैं। इस घराने को समझने की संभावनाओं में जो बातें समाई हुई हैं, उन सबको साध्य करना एक ही गायक के लिए असंभव है। इसीलिए इस घराने में कृष्णराव शंकर पंडित भी हैं ओंकारनाथ ठाकुर भी हैं, बच्चे बुवा भी हैं और विष्णु दिगंबर पलुसकर से टप्पा सीखे बिना एक सुगम, सुबोध गायकी सीखकर उत्तर की तरफ संगीत का प्रचार करने के लिए दौड़नेवाले वीर मराठा सात भी हैं।

इस बात को पुनः रेखांकित करना होगा कि इन सभी घरानों ने और घराने में अचूकता से समाविष्ट न होनेवाले अनेक प्रतिभासम्पन्न गायकों ने (जिन सबका नामोल्लेख करना असंभव है) जो गाया, वह था सदारंगप्रणीत ‘खयाल’-विचार, रचनाएँ कीं तो सदारंग जैसे खयालों की, जिन्हें विकसित किया, पुष्पित किया, वे सब सदारंग के ‘खयाल’ के ही कला-विचार थे। अष्टांगों में से जिन-जिन विशिष्ट अंगों का विकसन और उत्कर्ष अलग-अलग कलाकारों ने साध्य कर लिया, उसके लिए नींव बना सदारंग के ‘खयाल’ का ही कला-विचार।

सगारंग के काव्य का मूल्यांकन वाग्गेयकार के रूप में भी करना आवश्यक है। गीत के सोने में सदारंग के शब्द सुगंध भर देते हैं और वह बंदिश उस राग का अलंकार बन जाती है। वह राग को सजाती है। सदारंग की बंदिश का काव्य, जो गायन में न बाधक बनता है और न भारी प्रतीत होता है, उस काव्य की गेयता, सुबोधता और अचूक तथा सरल शब्दों में किया गया प्रसंग या घटना का हृदयस्पर्शी चित्रण एक निराला ही काव्य-प्रकार कहा जा सकता है। ‘खयाल’ गायन के लिए अनुरूप बंदिशों की रचना तो सदारंग ही कर सकते थे। महाकाव्य या हायकू लिखनेवाले इसे कर पाएँगे या नहीं, पता नहीं, क्योंकि यह एक अलग ही चुनौती है।

“मंदिरी मना तव गान भरे” कहते हुए गान अवस्था का वर्णन करते हुए कवि भा. रा. तांबे आगे कहते हैं –

‘अवघडे न ते जड शब्दातून

अडखळे न ते जडशब्दातून’

(जो भारी शब्दों में ऐँठता नहीं, जो भारी शब्दों में फँसता नहीं)

सदारंग के ‘खयाल’ के काव्य के लिए यह बिलकुल सटीकता से लागू होता है।

महाकाव्य या विविध भावस्थितियों को भुजबंधन में बाँधनेवाला महाकवि का मन होना और उसके अनुसार 'खयाल' को झुका सकना यह कलाकार की कुवत का, (सामर्थ्य का), कौशल का और चयन का भाग है। परंतु आज के कलाकार को सदारंगप्रणीत 'खयाल' के कला-विचारों के प्रति ईमानदार रहना हो, तो 'खयाल' के परंपरागत कलामूल्यों की अपने अंदाज से उपज से, अपनी पद्धति की रचना, उन मूल्यों का अपने देश-काल-स्थिति के अनुसार 'इंटरप्रीटेशन' करना अनिवार्य और अपरिहार्य है। इसे कुछ स्पष्ट करना होगा। उदाहरणार्थ आवर्तन की उत्तम रचना कर भली-भाँति सम पर आने को परंपरागत कलामूल्य माना जाता है। परंतु यह सोचना सही नहीं है कि विशिष्ट गायक के अनुसार या घराने के अनुसार ही यदि यह किया जाए, तो उत्तम होगा, अन्यथा नहीं। किशोरी जी हो या कुमारजी हो, रविशंकरजी हो या विलायत खाँ हों, वे सभी आवर्तन की रचना में जो भी उत्तम है, उसे अपने समय में अपनी-अपनी पद्धति से खोजते, तय करते और गाते-बजाते रहे हैं। इन कलाकारों की अगली पीढ़ियाँ भी यही करेंगी और 'खयाल' इस 'सुरतालबंध' के राग-कमलों के विकसन को अपने हृदय में संजोता रहेगा।

'खयाल' को निश्चित ही यह ज्ञात है कि कमल सामूहिक रूप से नहीं खिलते। उनके खिलने को अनुशासनबद्ध नहीं किया जा सकता। एक की भाँति दूसरा नहीं खिलता। प्रत्येक कमल की पंखुड़ियों के खिलने का अपना तरीका होता है। सूर न लगे, तो वह मुरझा जाता है।

सदारंग के 'खयाल' और अभिजात्य के बारे में कुछ कहना आवश्यक है।

मराठी के सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार, हास्यलेखक श्री पु.ल.देशपांडे जी का शब्दक्रीड़ा करने का कौशल अनुपम था। अपने ही नामको लेकर उन्होंने व्यंग्य किया था – मैं देशपांडे हूँ और मेरी पत्नी उपदेशपांडे है। देशपांडे और उपदेशपांडे की तरह मुझे लगता है कि ऑल इंडिया रेडियो ने अपने संगीत के भी शास्त्रीय और उपशास्त्रीय जैसे शब्द-खेल - उसके अवयव किए। पाश्चात्य संगीत में जिसे क्लासिकल कहते हैं, उसका स्वैर और गैर अनुवाद करते हुए उसे 'शास्त्रीय' कहा गया। पु. ल. देशपांडे जी ने 'क्लासिकल' शब्द को लेकर भी यह व्यंग्यपूर्ण विधान किया था कि "क्लास में जो सिखाया जाता है वह क्लासिकल"। आजकल क्लासिकल म्यूज़िक को अभिजात या कलासंगीत कहा जाता है।

विकिपीडिया में इन नामाभिधानों का विस्तृत उद्घाटन किया गया है। चाहे पोहे कहो या पवं, (मराठी में पोहा के लिए बोलचाल में पोहे, पवं जैसे शब्द भी प्रचलित हैं) सदारंगप्रणीत 'खयाल' संगीत में अभिजात क्या है, इस पर चर्चा करने की बजाय मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मेरे विचार में मूलतः अभिजात किसे कहेंगे। इसे स्पष्ट करते हुए यह खलाल का दीर्घ हो चला शिलालेख समेटता हूँ। मुझे लगता है कि पूर्वनिश्चित (प्री कम्पोज्ड) स्वरलिपिबद्ध संगीत को अभिजात नहीं कहना चाहिए, बल्कि विशिष्ट स्वरवाक्य में, संकेत रूप में छिपे हुए राग-विचार को, उस स्वर-वाक्य को अपनी संवेदनाओं की ध्वनि देकर आवर्तनों के 'कैनवास' पर उसे अलग-अलग स्थानों पर 'प्लेसमेंट' कर (स्थापित कर) अनेक उपजों से उस स्वरविधान की परतें खोलते हुए, जहाँ उसे निरंतर जाँचते आजमाते रहना संभव है, उस सदारंगप्रणीत 'खयाल' को अभिजात कहना चाहिए।

स्वरवाक्य को आजमाते रहने की यह प्रवाही प्रक्रिया ही नई उपजों के लिए आवश्यक सामग्री और कलाविचार की कर्मभूमि है। मेरे पास जो साहित्यिक संदर्भ उपलब्ध हैं, उनके आलोक में यह भी कहा जा सकता है कि किसी 'खयाल' के स्वरवाक्यों का क्रम मे.पु. रेगे जी के टीकालेखों की तरह सादे-सरल शब्दों की तर्कशुद्ध और मर्मभेदक रचना का आल्हाद दे सकता है, तो किसी 'खयाल' में ये ही स्वरवाक्य कवि ग्रेस की 'बुडे चंद्र माझ्या सखीच्या कलाने' इस काव्यपंक्ति के प्रकार के भी हो सकते हैं। इस काव्य पंक्ति में कलाएँ किसकी और कला कौन सी और कवि का कल (रुझान) निश्चित रूप से किस तरफ है, यह कलात्मक पहेली सुलझाते हुए मन की अवस्था को विकल बनाते हैं और बुद्धि को भी विस्मित करते हैं।

“सोच अपनी-अपनी, खयाल अपना-अपना”।

.....